प्रेमचन्द युगीन राष्ट्रीय परिदृश्य एवं जन–जागरण

डॉ0 मन्जू कोगियाल
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
राजकीय स्ना0 महाविद्यालय मालदेवता,
रायपुर, देहरादून
Email:manjukogiyal02@gmail.com

सारांश

प्रत्येक युग की अपनी–अपनी समस्याएँ, आवश्यताएँ तथा इच्छाएँ होती हैं। साहित्यकार ही इन समस्याओं, आवश्यकताओं और इच्छाओं को समझकर तदनुसार समाधान प्रस्तुत करता है। यह जरूरी नहीं है कि वह अपने युग की हर बात का समर्थन करे, वह उनका विरोध भी कर सकता है। उसे अपने योगदान का यथार्थ बोध होना भी आवश्यक है, इसके लिए किसी विशेष रूचि की आवश्यकता नहीं है। जिसे अपने युग की सच्ची अनुभूति मिली होती है, उसकी वाणी में स्वतः ही युग का स्वर ध्वनित होने लगता है।

प्रस्तावना

"प्रेमचन्द जी का समय राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से उथल–पुथल का युग समय था।"[1] सम्पूर्ण राष्ट्र में सुधार आन्दोलनों तथा संघर्षों की लहर दिखायी पड़ रही थी। देश में जनजागरण की आवाज गूँज रही थी। प्रेमचन्द का युग भारत के लिए अस्मिता की खोज का युग था। सच्चे साहित्यकार के साहित्य में उसका युग साकार हो उठता है। इस विषय में प्रेमचन्द जी के विचार दृष्टव्य हैं– "साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके जीवन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौम रहता है।"[2] सदियों की दासता के कारण भारतीय जनता को आत्मकेन्द्रित होते हुए भी रूढ़िवादी बना दिया था। वह उन रूढ़ियों को एक अभिशप्त की भाँति ही ढोते जा रहे थे।

प्रेमचन्द युग

प्रेमचन्द का युग भारतीय स्वाधीनता संग्राम का युग था। प्रेमचन्द के समय अधिकाँश भारतीय जनता असंतोष में जी रही थी। "सन् 1905 में विश्वव्यापी आर्थिक संकट फैला। पूँजीवादी व्यवस्था का यह सबसे पहला भयानक संकट था। उपनिवेशों का विभाजन पूरा हो चुका था। जर्मनी आदि देशों के नये पूँजीवाद को फैलाने के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था।

इस आर्थिक अव्यवस्था का विरोध पूर्ण रूप से स्वाभाविक था। आगे चलकर यही विरोध सन् 1914 का विश्व–व्यापी युद्ध बन गया।"[3] इस आर्थिक संकट के साथ ही पूरे देश में बेकारी फैल गई। जिसका परिणाम यह हुआ कि एशिया के देशों में पाश्चात्य साम्राज्यवादियों के विरुद्ध स्वतन्त्रता आन्दोलन संगठित होने लगा। इसी स्वतन्त्रता आन्दोलन ने 'बंग–भंग' के खिलाफ आन्दोलन का रूप ले लिया। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत का औद्योगिकरण प्रारम्भ हो गया। जिसके कारण भारत में कुटीर उद्योग–धन्धों और कृषि का पतन प्रारम्भ हो गया। इस आर्थिक परिवर्तन के फलस्वरूप स्वतन्त्रता आन्दोलन की प्रमुख संस्था कॉंगेस की नीति में भी परिवर्तन लक्षित हुए। सन् 1904 के रूस और जापान युद्ध का भी प्रभाव नवोदित राष्ट्रीय चेतना पर पड़ा। इसी समय फ्रॉंसीसी क्रान्ति द्वारा क्रोधित 'स्वतन्त्रता', 'समानता' और भाई–चारे के आदर्शों का भी प्रभाव भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन पर पड़ा। घर एवं बाहर के इन राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तनों ने भी भारतीय जनमानस की चेतना को जगाने का प्रयास किया। जन–जागरण के विषय में डॉ0 नगेन्द्र लिखते हैं कि– "पाश्चात्य ढंग की शिक्षा ने विशेषकर अंग्रेजी शिक्षा ने देश के बुद्धिजीवियों के सामने एक क्षितिज का उद्‌घाटन किया। परिणाम स्वरूप भारतीय मनीषी अपने परिवेश की त्रासपूर्ण विघटनमयी स्थिति के प्रति सजग हुए और उसके व्यापक सुधार की आवश्यता की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ।"[4] इसका एक और कारण भी था जिसका सम्बन्ध ा ईसाई धर्म के प्रचार–प्रसार से था। सत्ता का बल पाकर ही ईसाई धर्म–प्रचारक पाश्चात्य जीवन–पद्धति की गरिमा और भारतीय सांस्कृति निःस्सारता का प्रचार–प्रसार करने लगे। राजनीतिक दासता के साथ ही साथ सांस्कृतिक परिवर्तन ने भी यहाँ के बुद्धिजीवियों व चिन्तकों के विचारों में अधिक क्रान्ति को जन्म दिया। इसका परिणाम था– भारतीय पुनर्जागरण का व्यापक आन्दोलन। जिसकी नींव द्विवेदी युग में ही पड़ चुकी थी। जिसके जनक थे– राजा राममोहन राय। स्वामी दयानन्द सरस्वती (आर्य समाज), रामकृष्ण परमहंस (रामकृष्ण मिशन), स्वामी विवेकानन्द, गोपालकृष्ण गोखले, बालगंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी आदि इसी विराट आन्दोलन के शीर्ष नेता थे। इन्हीं महापुरुषों के अथक तथा अविस्मरणीय प्रयासों के परिणाम स्वरूप ही देश के अतीत गौरव से मूल्यवान तत्वों को खोजकर उन्हें नवीन जीवन के अनुरूप ढ़ालने का प्रयास किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी इसी समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लक्षित हुए। सन् 1914 ई0 में प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया, जो समस्त विश्व के राजनीतिक और बौद्धिक जीवन को आन्दोलित करने में पर्याप्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

प्रेमचन्द का अवतरण जिस युग में हुआ वह सामान्य नहीं था। राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से प्रेमचन्द युग अनेकानेक परिवर्तनों और संघर्षों का समय था। कोई भी परिवर्तन एकाएक नहीं होता है, इसके पीछे सदियों की दमित और शोषित इच्छाएँ होती हैं। जो भी परिवर्तन या विरोध होता है वह समय की माँग होती है। "प्राचीन रचनाकारों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रतिबद्धता–विषयक प्रश्नों के समकक्ष रखकर निर्णय लेना सम्भवतः उचित न हो, परन्तु उनके जीवन–विवेक का परीक्षण इस दृष्टि से अवश्य होना चाहिए कि प्रत्येक साहित्यकार का तत्कालीन व अपने युग की वास्तविकता को ही कितना और किस रूप में

प्रतिबिम्बित कर रही है। उसकी गति व प्रवृत्ति क्या है तथा मानवीय चेतना में वे क्या भरना चाहती है?"[5]

"राजनीतिक दृष्टि से इस युग को 'भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष और सिद्धि का काल' कहा जा सकता है। इसी कारण आधुनिक कविता की प्रधान विशेषता है उसमें छिपी–राष्ट्रीय भावना और जन चेतना का स्वर। इस आधार पर इस काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है– पहला 'संघर्षकाल' और दूसरा 'सिद्धिकाल'। सन् 1857 ई. से सन् 1947 ई. तक का राष्ट्रीय परिदृश्य में राजनीतिक संघर्षों का समय था, जिसमें ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारतीय जनमानस का संघर्षशील राजनीतिक विरोध और स्वाधीनता को प्राप्त करने का आक्रोश व्यक्त हुआ।"[6]

"उन्नीसवीं सदी में ब्रिटेन की राजनीति अपने घर में भी नये–नये परिवेशों की खोज कर रही थी। पुराना सनातन वर्ग शिथिल होकर पतनोन्मुख हो रहा था और उसके स्थान पर नये पूँजीवादी वर्ग की प्रतिष्ठा हो रही थी। विप्लवकारिणी औद्योगिक क्रान्ति एक धनिक मध्यवर्ग का निर्माण कर चुकी थी, जो अपने व्यापार को सुदृढ़ व स्थाई रूप से करने के लिए किसी से भी संघर्ष लेने के लिए कटिबद्ध थी। इस धनिक वर्ग ने अपने विदेशी व्यापार की सुविधा के लिए भारत में ईस्ट इण्डिया कंपनी के एकाधिकार का विरोध किया। फलस्वरूप ईस्ट इंडिया कम्पनी समाप्त कर दी गयी और भारत ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश बन गया।"[7] "विजयी ब्रिटिश उपनिवेश ने बड़ी तेजी से भारतीय समाज का विघटन करना शुरु कर दिया। ब्रिटिश शासन ने परम्परागत भारतीय अर्थव्यवस्था की नींव को छिन्न–भिन्न कर भारत के सामन्ती समाज को औपनिवेशिक समाज में परिवर्तित कर दिया। भारत में अंग्रेजों की भूमिका के विषय में कार्ल मार्क्स ने 25 जून, 1853 को 'न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून' में 'भारत में ब्रिटिश शासन' नामक अपने महत्त्वपूर्ण लेख में लिखा है कि "इंग्लैण्ड ने भारतीय समाज के पूरे ढाँचे को ही तोड़ डाला है और उसके पुनः निर्माण के कोई लक्षण अभी तक दिखायी नहीं दे रहे हैं। उसके पुराने संसार के इस तरह उससे छिन जाने और किसी नये संसार के प्राप्त न होने से हिन्दुस्तानियों के वर्तमान दुःखों में एक विशेष प्रकार की उदासी जुड़ जाती है और ब्रिटेन के शासन के नीचे हिन्दुस्तान अपने सम्पूर्ण पिछले इतिहास से कट जाता है।"[8]

02–ब्रिटिश साम्राज्यवादी यहाँ व्यापार करने की नीयत से आये थे। इन अंग्रेज व्यापारियों की लोलुपता से अब पूरा देश ही नहीं, छोटे–छोटे गाँव भी प्रभावित होने लगे थे। अपने व्यापार को सुदृढ़ व मजबूत करने के लिए उन्होंने यातायात के साधनों को भी विकसित किया। रेल, तार व डाकखाने स्थापित किए गये, जिसके चलते ग्राम्य जीवन का भी प्रभावित होना स्वाभाविक था। अब गाँव अलग–थलग नहीं रह सकते थे। इसका एक परिणाम तो अच्छा हुआ, चूँकि अब भारतीय सभ्यता व संस्कृति में कुछ–कुछ निखार (बदलाव) आने लगा और रूढ़ियाँ व अंधविश्वास भी टूटने लगे थे। मशीनों से जो वैज्ञानिक सभ्यता का रही थी उसका प्रकाश देहात तक पहुँचने लगा था, किन्तु ब्रिटिश दावेदारों ने यह सफल नहीं होने दिया, सम्पूर्ण देश को अपने अधिकार में लेकर देहात में पुरानी समान्ती–व्यवस्था ही रहने दी, वहाँ पर मिलें और कारखाने तो दूर, जो घरेलू उद्योग–धन्धे थे, उन्हें भी समाप्त कर, केवल कृषि पर ही आश्रित कर दिया।

इसमें भी उनकी लालची नीयत स्पष्ट झलक रही थी, ताकि कृषि से उन्हें उनके कारखाने चलाने हेतु कच्चा–माल प्राप्त हो सकें। फलस्वरूप किसानों की **आर्थिक** स्थिति दिन–प्रतिदिन बद् से बद्त्तर होती चली गयी। अब वे अपने ग्राम्य जीवन में एक घुटन का वातावरण अनुभव करने लगे थे। ग्राम्य–जनजीवन का जो रस था, वह अब जहरीला होने लगा था। कृषि भूमि में जो कुछ पैदावार होती थी, उस पर भी लगान दिया जाता था, जिस कारण अब आजीविका का निर्वाह कर पाना सम्भव नहीं हो पा रहा था। जो किसान वर्ग था वह मजदूरी के लिए विवश हो गया था।

इस प्रकार कृषि प्रधान देश का व्यक्ति भूमिहीन होने लगा था। अब व्यक्ति के पास कोई विकल्प शेष न था। वह अपनी मिट्टी अपना ग्राम्य जीवन जिससे वह जुड़ा हुआ था, उसे छोड़ने के लिए विवश हो गया। इस तरह ग्राम्य–जीवन बिखराव की स्थिति में आने लगे। भारत में जितने भी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आन्दोलन हुए, उन्होंने सम्पूर्ण राष्ट्र के साथ–साथ गाँवों को भी प्रभावित किया। क्योंकि भारत की अधिकाँश जनता गाँवों में ही निवास करती थी। जन–जागरण की लहर पूरे भारत में चाहे वह नगर हो या ग्राम, हर स्थान पर अपना प्रभाव दिखा रही थी, क्योंकि तत्कालीन जमींदारी और पूँजीवाद व्यवस्था ने सर्वाधिक प्रभावित ग्रामीण किसानों और मजदूरों को किया। इस संबंध में स्वयं अंग्रेज अर्थशास्त्रियों का कथन है कि– "उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत की पहली सम्पन्नता नष्ट हो गई थी, और देहात विशेष रूप से दरिद्र और विपन्न थे।"[9] इसी प्रकार युगीन भारत के सम्बन्ध में 'रजनी पामदत्त' ने अपनी पुस्तक 'नया भारत' में एक अंग्रेज इतिहासकार एम. एल0 डार्लिंग के हवाले से लिखा है– "हिन्दुस्तान के बारे में सबसे अचम्भे की बात यह है कि उसकी मिट्टी उपजाऊ है और उसकी जनता निर्धन है।"[10] "किसानों पर जो अत्याचार हो रहे थे, उनका इलाज सत्याग्रह नहीं था। इसके लिए एक जुट होकर संघर्ष की आवश्यकता थी।" प्रत्येक भारतवासी (चाहे वह नगर का हो या गाँव) के भीतर चिरकाल से एक मवाद पक रहा था और वह मवाद विरोध और संघर्ष की बेचैनी पैदाकर रहा था। मवाद पकता गया ओर जनचेतना विकास के साथ व्यक्तिगत घृणा तथा सामूहिक विद्रोह की भावना में तबदील होती रही।

तद्युगीन जनमानस के मस्तिष्क में तीव्र संघर्ष चल रहा था। "यह तीव्र जनसंघर्ष सन् 1857 ई. में उत्तरी और मध्य भारत में एक शक्तिशाली जनविद्रोह के रूप में उठ खड़ा हुआ, जिसने ब्रिटिश शासन की जड़े हिलाकर रख दी, हालांकि इसका आरम्भ कम्पनी की सेना में तैनात भारतीय सिपाहियों से हुआ, किन्तु जल्द ही इसमें एक व्यापक क्षेत्र के लोग भी शामिल हो गये।"[11] जिसमें छोटे से छोटा व्यक्ति तथा बड़े से बड़ा व्यक्ति (मजदूर, किसान, दस्तकार, बढ़ई, सामान्त से लेकर राजा तक) शामिल हुये। इन सभी सामाजिक इकाइयों का एक साथ एक समूह में एक ही लक्ष्य के लिए सम्मिलित होना वास्तव में तद्युगीन जन–जागरण था। "सन् 1858 में अंग्रेजों को यह बात समझ में आने लगी थी कि भारतीय राष्ट्रवाद इतनी ताकत और गति अर्जित कर चुका है कि वह भारतीय राजनीति में एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभर सके। अतः भारतीय राजनीति को एक मंच तथा भारत पर अपन शासन बिना विरोध के चलाने के लिए उन्होंने सन्

1885 में 'इण्डियन नेशनल कॉंग्रेस' की स्थापना की। इस संस्था को कुछ भारतीय राजनीतिज्ञों का भी सहयोग प्राप्त हुआ। इसके साथ ही धीरे–धीरे इसमें राष्ट्र–प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना भी पनपने लगी। राष्ट्र–प्रेम की भावना इतनी प्रबल हुई कि शासन को उससे विरक्ति होने लगी।"[12]

03–राष्ट्रीय कॉंग्रेस के अस्तित्व में आने से पूर्व ही कुछ सामाजिक संस्थाएँ भी स्थापित हो चुकी थी, राजा राममोहन राय पहले भारतीय नेता थे, जिन्होंने भारतीय समाज में व्याप्त मध्ययुगीन राजनीतिक व सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए आन्दोलन चलाया। "सन् 1866 में लन्दन में दादाभाई नौरोजी ने 'ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन' की स्थापना की।"[13] लन्दन यात्रा से लौटने के बाद 1872 में केशवचन्द सेन ने पश्चिमी शिक्षा के प्रसार, स्त्रियों के उद्धार तथा स्त्री शिक्षा के उद्देश्य से 'इण्डियन रिफार्म एसोसिएशन' की स्थापना की। "इसके पश्चात् सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी तथा आनन्द मोहन बोस के नेतृत्व में बंगाल के युवा राष्ट्रवादियों ने जुलाई 1870 में 'इण्डियन एसोसिएशन' की नींव रखी।"[14] इसी प्रकार सन् 1870 ई. में जस्टिम रानाडे तथा उनके साथियों ने मिलकर 'पूना सार्वजनिक सभा' व 1875 में 'बम्बई' में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारत को धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक रूप से एक सूत्र में बाँधने के लिए 'आर्यसमाज' की स्थापना की। सन् 1875 ई. में संयुक्त राज्य अमेरिका में एवं सन् 1886 ई. में भारत में 'थियोसोफिकल सोसायटी' की स्थापना की गयी जिसकी संस्थापक 'श्रीमती ऐनी बेसेन्ट' थी। जिससे प्रभावित होकर ही उन्होंने स्वयं को भारतीय रहन–सहन में इस प्रकार ढाल दिया था। मानों भारतीय संस्कृति उनके रोम–रोम में रची–बसी है। साथ ही सन् 1896–97 में रामकृष्ण आन्दोलन के मुख्य प्रेरक स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की।

"18वीं सदी के मध्य जब अंग्रेजों ने भारत में अपनी शासन–सत्ता को आरम्भ किया, उस समय भारत राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक दृष्टि से बहुत दुर्बल था। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् की राजनीतिक एकता छिन्न–भिन्न हो गयी। सभी राज्यों में निरन्तर आपसी फूट पड़ने लगी। मराठा भी भारत को संगठित करने में असफल सिद्ध हो रहे थे। साहित्य व कला की उन्नति भी अवरुद्ध हो चुकी थी, ऐसे में भारतीयों का नैतिक पतन होना स्वाभाविक था। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए अंग्रेजों ने धीरे–धीरे सम्पूर्ण भारत को अपने अधीन में कर लिया। अंग्रेजों ने धीरे–धीरे भारत में शान्ति व्यवस्था और राजनीतिक एकता को स्थापित करने में सफलता पायी और भारतीय समाज को स्थायित्व की भावना प्रदान की। 19वीं सदी के मध्य काल तक अंग्रेजों ने इस कार्य को पूर्ण किया, परन्तु भारतीयों पर उनके शासन, संस्कृति और विचारों का प्रभाव उससे पहले ही आना आरम्भ हो गया था। 19वीं सदी के प्रारम्भिक समय में अनेक ऐसी परिस्थितियों का निर्माण हो गया था, जिनके कारण भारत में अनेक सामाजिक आन्दोलन आरम्भ हुये। भारत में जितने भी समाजसुधार के आन्दोलन हुए उनकी मूल चेतना धार्मिक भावना ही रही है।"[15]

"इन सुधार आन्दोलनों के अतिरिक्त भारतीय समाज में अन्य सुधार आन्दोलन भी हुए, जिससे भारतीय जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ा, जिनमें प्रमुख हैं– सिक्ख सुधार आन्दोलन,

देवबन्द शाखा आन्दोलन, पारसी सुधार आन्दोलन, मुस्लिम सुधार आन्दोलन, अलीगढ़ी आन्दोलन आदि।"[16] तत्कालीन समय भारतीय जीवन के लिए संघर्ष का समय था। सारा देश ऐसे साम्राज्यवादियों के हाथों विवश था, जिनकी शासन नीति प्राचीन काल के विदेशी आक्रमणकारियों से तो भिन्न थी; साथ ही साथ यहाँ एक ओर भारतीय समाज में जन संकट उभर रहा था, वहीं दूसरी ओर रूस में भी मार्क्सवादी साम्यवाद प्रबल हो उठा था जो वहाँ के विषम और विकट संघर्ष से जूझते हुए जनजीवन को एक नयी ऊर्जा व बल प्रदान कर रहा था। भारतीय बुद्धिजीवी एक ओर अपने समाज में व्याप्त इन अनेक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, विसंगतियों व कष्टों को देख रहा था, वहीं मार्क्सववादी दर्शन भारतीय बुद्धिजिवीयों के लिए प्रेरणास्रोत बन रहा था। प्रेमचन्द युगीन जन–जागरण के सन्दर्भ में अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं– "इस नव जागरण का दायित्व दो संस्कृतियों की टकराहट में अपनी अस्मिता की पहचान में है। उपनिवेशवादी अंग्रेज यहाँ की संस्कृति को हेठी की दृष्टि से देखते थे। उनकी दृष्टि में भारतीय निर्मम बर्बर (क्रिफ्टोबार बारैयिन) थे। ईसाई मिशन हिन्दुओं–मुसलमानों के धर्म पर आक्रमण कर रहा था, उनका उत्तर देना भी आवश्यक था।"[17]

इसके साथ ही वह आगे लिखते हैं– "भारतीय नवजागरण से सम्बद्ध महापुरुषों में, राजाराम मोहन राय से महात्मा गाँधी तक अपनी अस्मिता की प्रतिष्ठा तथा जनता की जागरूकता के लिए भारतीय संस्कृति का आधार ग्रहण किया। राजा राम मोहन राय ने उपनिषदों का सहारा लिया तो विवेकानन्द ने अद्वैत का, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद का। इनके आधार पर उन्होंने धार्मिक भेदभाव, ऊँच–नीच, छुआछूत, जाति–पाति का जमकर विरोध किया। स्पष्ट है कि उनके विचारों को नयी दिशा देने का कार्य अंग्रेजी उपनिवेशवाद तथा तत्कालीन समाज की ज्वलंत समस्याओं ने किया।"[18] इस प्रकार परिवेश व वातावरण की नूतनता ने आधुनिकता की चेतना जाग्रत की तथा युगों–युगों से चली आ रही सामाजिक कुरीतियों, आडम्बरों व आचार–व्यवहार तथा आस्था–विश्वास में महत्त्वपूर्ण बदलाव किए। पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आने से भारतीयों के रहन–सहन के तौर तरीकों में भी बदलाव आना स्वाभाविक था। अब वह पहले की तरह बाहरी प्रभावों से मुक्त नहीं थे। वह शासक वर्ग के जीवन–आदर्श, उसकी संस्कृति और सभ्यता, उसके साहित्य दर्शन आदि को ही श्रेष्ठतर समझने लगा। इसके सन्दर्भ डॉ. राम भरोसे का मत है– कि "आधुनिक भारतीय समाज का निर्माण पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में, विज्ञान के गतिशील वातावरण में हुआ। मध्य युग के वातावरण से आज के युग में इतना अधिक अन्तर है कि लगता है हम दूसरी दुनिया में आ पहुँचे हैं। इस नये समाज की नींव मध्य युग में पड़नी आरम्भ हो गयी थी। मध्य युग की अन्धविश्वासी मान्यता और सामाजिक कुरीतियों को मिटाने का अभियान सन् 1830 ई. के आसपास लार्ड विलियम वैंटिक द्वारा आरम्भ किया जा चुका था। उसी समय मैकाले का एड्युकेशन ऐक्ट भी पास हुआ, जिसके अनुसार अंग्रेजी की शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी थी। यहीं से नये समाज और आधुनिक जीवन का समारम्भ माना जा सकता है।"[19]

समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो प्रेमचन्द युग सामाजिक दृष्टि से अत्यधिक पिछड़ा था, उसमें अनेक कुरीतियाँ, अन्धविश्वास व पाखण्ड व्याप्त था। इसके साथ ही

अस्पृश्यता, सामन्तवादी, व्यवस्था भी प्रबल थी, जो जन–जीवन पहले गाँवों तक ही सिमटा हुआ था, अब वह नगरों से मेल–जोल बढ़ाने लग गया था। भारतीय सभ्यता व संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट झलक रहा था, क्योंकि तत्कालीन समय में जो समस्या भारतीयों को थी उसी समस्या से पाश्चात्य देश भी जूझ रहे थे। देश व विदेशों में भी पूंजीवाद का अत्यधिक विकास हो चुका था। भारत और रूस में भी पूंजीवादी क्रान्ति से किसानों का जीवन प्रभावित हो रहा था। इस सम्बन्ध में डॉ. रामविलास शर्मा का कथन है– "रूस के गाँवों में पूंजीवादी क्रान्ति हो रही थी, भारत के गाँवों में अंग्रेजों ने यहाँ के राजाओं, ताल्लुकेदारों और जमींदारों को अपना सहयोगी बनाकर सामन्ती अवशेषों को मजबूत कर दिया था।"[20] इस स्थिति में तत्कालीन समय बहुत विकट और संक्रमण का काल था, जहाँ एक और भारतीय सभ्यता पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति से प्रभावित हो रही थी। वहीं समाज में दो वर्गों का जन्म हो रहा था। एक वर्ग जितना ऊपर उठ गया था, दूसरा वर्ग उतना ही नीचे दबता जा रहा था। लोग आजीविका का निर्वाह करने के लिए संत्रस्त थे। खेती में जितनी उपज होती थी, वह ऋण में ही चली जाती है। किसानों व मजदूरों की दशा ज्यों की त्यों बनी रही। उनकी दशा में कोई सुधार नहीं आ रहा था। ऐसी स्थिति में वह अपने ही गाँव में बेकारी व भुखमरी के शिकार होते जा रहे थे।

ग्राम्य जीवन का जो रस था, वह अब संत्रास और कुण्ठाओं के कारण विषाक्त हो चुका था। फलस्वरूप अब ग्राम्य जीवन में न ही कोई मजदूर रहना चाहता था और न ही रह सकता था। ऐसे में उनकी मानसिकता व वैचारिकता में परिवर्तन आना स्वाभाविक था। यही कारण है कि उस समय के कुछ बुद्धिजीवियों ने समाज के इस तबके को उठाने व जगाने हेतु अपनी सारी मानवीय चेतना लगा दी। ब्रिटिश सरकार की शोषण नीति का शिकार प्रमुखतः किसान व मजदूर वर्ग था, जो कि अपनी दयनीय स्थिति के कारण न ही उसका विरोध कर पा रहा था और न ही उस सत्य को जी पा रहा था। उनकी इस स्थिति पर प्रकाश डालते हुए डॉ. राम विलास शर्मा लिखते हैं– "पुरानी समाज व्यवस्था का अंत नहीं हो गया किन्तु लोगों में कई चेतना पैदा हुई"।[21]

तद्युगीन जन–जागरण ने तत्कालीन भारतीय जन–मानस की चेतना को जगाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। जिसका स्पष्ट प्रभाव तत्कालीन साहित्यकारों की वाणी में परिलक्षित होता है। देशकाल की परिस्थितियों का प्रभाव तद्युगीन साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक है। इस सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल का कथन युक्ति संगत है– "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।"[22]

इस प्रकार उक्त राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा साँस्कृतिक पृष्ठभूमि ने ग्रामीण जन–मानस की चेतना को परिवर्तित कर नवीन मानवीय व वैज्ञानिक चेतना का उन्मेष किया। तत्कालीन परिस्थितियों ने हताश व निराश जनता में आशा का संचार कर अपने पीड़ित व शोषित समाज के विषय में सोचने के लिए विवश किया। जिसके फलस्वरूप साहित्य में वैज्ञानिकता से परिपूर्ण जनवादी चेतना युक्त धारा प्रवाहित हुई। ग्रामीण जीवन में व्याप्त रूढ़ियाँ, कुन्द परम्पराएँ, मृत प्रायः होते गाँव तथा अस्पृश्यता, जाति प्रथा, छुआछूत, सम्प्रदायवाद, ग्रामों में व्याप्त वर्ग भेद,

नारी शोषण इत्यादि भिन्न–भिन्न विषयों को प्रेमचन्द व प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों ने अपनी लेखनी का विषय चुना।

संदर्भ ग्रंथ

1. *प्रेमचन्द दर्शन,* डॉ. रमेशपाल चौहान, उद्धत्त अंश,
2. वही, पृ0– **63**
3. *'हिन्दी साहित्य का इतिहास',* डॉ. नगेन्द्र, पृ0– **531**
4. *'दलित–विमर्श तथा प्रेमचन्द–साहित्य',* डॉ. राम भरोसे, पृ0– **47**
5. वही, पृ0– **49**
6. वही, पृ0– **49, 50**
7. *'प्रेमचन्द युग : राजनीतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि',* डॉ. राम भरोसे, उद्धत अंश
8- *'प्रेमचन्द, कला और कृतित्व'*, हंसराज रहबर, पृ0– **9**
9. वही, पृ0– **95**
10. वही, पृ0– **100**
11. *'दलित–विमर्श तथा प्रेमचन्द साहित्य'*, डॉ. राम भरोसे, पृ0– **51**
12. वही, पृ0– **55**
13. वही, पृ0– **56**
14. वही, पृ0– **56**
15. वही, पृ0– **61, 62**
16. वही, पृ0– **66**
17. *'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास',* डॉ. बच्चन सिंह, पृ0– **283**
18. वही पृ0– **283**
19. **'दलित–विमर्श तथा प्रेमचन्द साहित्य',** डॉ. राम भरोसे, पृ0– **67**
20. *'प्रेमचन्द व उनका युग',* डॉ. राम विलास शर्मा, पृ0– **153**
21. वही, पृ0– **163**
22. *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0– **1**